

## इक्कीसवीं सदी: महिला युग की प्राथमिकता

Manoj Kumar

Department of History, University of Rajasthan, Jaipur, Rajasthan, India

### प्रस्तावना

सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया प्रकृति से पूरी तरह विज्ञानसम्मत है, जिसके अनुसार प्राकृतिक रूप से स्त्री पुरुष से अधिक सशक्त, अधिकारसंपन्न और वैभवयुक्त है। इस नियम से सृष्टि की रचनाकार व पुरुष की माँ होने के नाते अध्यात्मप्रेरित समाज में स्त्री का दर्जा पुरुष से ऊपर होना चाहिए था। पर प्राचीनकाल से आज तक, कुछ मातृमूलक परिवारों को छोड़कर, ऐसा नहीं हुआ, तो इसके अनेक कारण रहे- शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, भावात्मक, सामाजिक और राजनीतिक भी। स्वयं में प्राकृतिक वैभव की कमी और अपने अस्तित्व के लिए स्त्री पर निर्भरता का मनोविज्ञान संभवतः कहीं पुरुष के आड़े आया होगा, जिसमें अहं को जाने-अनजाने माँ ने भी भावात्मक रूप से पोषित किया होगा। बहरहाल, यहाँ सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया व समाज-संगठन के इतिहास में जाने अथवा इसकी पृष्ठभूमि में स्त्री-पुरुष संबंध को व्याख्यायित करने की गुंजाइश नहीं। इसलिए सीधे विषय पर ही आएँ:-

### महिला-युग

बीसवीं सदी के प्रथमाद्ध को 'महिला-जागरण का युग' कहा जाता है, उत्तरार्द्ध को 'महिला-प्रगति' का। 21वीं सदी के लिए 'महिला युग' की भविष्यवाणी की गई है। आने वाला समय ही इस कथ्य की प्रासंगिकता और सार्थकता सिद्ध करेगा। फिलहाल तो हमें महिलाओं की स्थिति को लेकर इतने अंतर्विरोध दिखाई दे रहे हैं। कि उनकी धुंध में प्रगति और उत्तरोत्तर प्रगति की संभावनाएँ कुछ दबी-ढँकी-सी दिखाई देती हैं। यह हम महिलाओं पर निर्भर है कि इस धुंध को काटकर, उजालों को विस्तारित करने के लिए हम कितने आकाश को राह दे पाती हैं। आकाश, जो हर आँगन में टुकड़ा-टुकड़ा झॉक रहा है, उसे समष्टिगत रूप में हम किस प्रकार संयोजित करें कि प्रकाश की किरणें हर घर-आँगन को आलोकित करते हुए पूरी समाज-जीवन तक वित्कीर्ण हो सकें। आइए, पहले नई सदी के नए आकाश को धुंधलाने वाले इन अंतर्विरोधी की ही जाँच-पड़ताल करें:

'महिला वर्ष' 1975 के बाद हमने 1976-85 तक पहला तथा 1986-95 तक दूसरा 'महिला दशक' मनाया। इस दौरान विश्व के सभी देशों में महिलाओं के लिए प्रगति के रास्ते तलाश किए गए। उनके लिए शिक्षण-प्रशिक्षण व रोजगार के अवसर जुटाए गए। राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक क्षेत्रों में उनकी हिस्सेदारी के लिए जगह बनाई गई। पर इस अवधि में हुए तीन अंतर्राष्ट्रीय महिला-सम्मेलनों में सभी देशों की ओर से महिला-शोषण में बेहताशा वृद्धि की दुखद व भयावह रिपोर्ट प्रस्तुत की गई।

हर क्षेत्र में महिलाओं के आगे बढ़ने के साथ ही उन पर होने वाले अत्याचारों में भी बढ़ोतरी हुई है। यहाँ तक कि घरों में व घरों के बाहर छोटी-छोटी बच्चियाँ तक सुरक्षित नहीं। स्त्री-शिक्षा व रोजगार के साथ ही शिक्षण-स्थलों में, कार्यालयों में, घरों में व घरों से बाहर सार्वजनिक स्थलों पर उनके साथ न केवल भेदभाव बरकरार है, उनका शोषण भी बढ़ गया है। मानसिक-भावनात्मक

संघर्ष से लेकर शारीरिक-मानसिक यातना तक। चारों ओर असुरक्षा व अपमान की स्थितियाँ विद्यमान हैं। यह कैसी आजादी या बराबरी है?

बच्चों द्वारा माता-पिता की अनादरपूर्ण उपेक्षा व परिवारों की टूटन इसी का परिणाम है। परित्याग, तलाक, बाल-अपराध, हिंसा-यौन हिंसा, हत्या-आत्महत्या भ्रूण हत्या तक। परिवारों की टूटन के बाद सामाजिक विखंडन और सामाजिक असुरक्षा का वातावरण फिर क्या इसकी स्वाभाविक परिणति नहीं? इधर संस्कृति पर मीडिया के आकाशीय हमले के बाद अपसंस्कृति व असुरक्षा का यह दायरा यदि बढ़ता दिखाई दे तो यह भी क्या स्वाभाविक नहीं? बाजार और उपभोक्ता-मूल्य सब पर हावी है। परिवार पर, रिश्तों पर, आत्मीय संबंधों पर। मानवीय मूल्य और मानवीय संवेदनाएँ फिर कहाँ बचेंगी?

कारण एक नहीं, अनेक हैं। अगर शुरुआत अपने से करें तो कहना होगा कि मुख्य कारण है: अधिकार: अधिकार की गूँज, अधिकार-कर्तव्य का संतुलन नहीं, श्रम और योग्यता से अधिकारों का अर्जन नहीं, अधिकारों की माँग या छीना-झपटी। स्त्री-पुरुष सहयोग नहीं, प्रतिद्वंद्विता। प्रकृतिदत्त पूरकता नहीं, मात्र बराबरी। माँ के नाते स्वयं को पुरुष से ऊँचा रखने के बजाय मात्र भोग्या रूप में प्रस्तुति व कुछ सुविधाओं के लिए गलत समझौते करके स्वयं भी शोषण को आमंत्रित करना। स्त्री-पुरुष को परस्पर पूरक व सहयोगी न मानकर, दो प्रतिद्वंद्वी वर्ग बना देना और फिर एक ओर 'ललकार' व दूसरी ओर 'बदले की भावना' से अहंवादी पौरुष का वीभत्स प्रदर्शन। परिणाम: टकराव और टकराव। न मूल्यों में विश्वास, न त्याग-समर्पण में आस्था, न परिवार-समाज के प्रति जिम्मेदारी, न परस्पर सम्मान। यह समाज में, राजनीति में व्यापक भ्रष्टाचार और अपराधीकरण को आमंत्रण नहीं तो क्या है? बच्चों को संस्कार माँ देती है और पुरुष-उद्वेगता को भी स्त्री ही संभालती-सुधारती है। स्त्री-पुरुष दो वर्ग बनकर संघर्षरत रहेंगे तो समाज को संस्कार कौन देगा? सार्थक बदलाव कौन लाएगा? संसार में शांति कैसे स्थापित होगी? शांति के बिना, हिंसा की काट सोचे बिना पारिवारिक-सामाजिक सुरक्षा कैसे मिलगी? इन प्रश्नों को संक्रमण काल की प्रतिक्रिया कहकर टाला नहीं जा सकता। हर परिवर्तन काल संक्रमण काल होता है। पर उसके इतने भयावह परिणाम पहले कम ही देखने में आए हैं। परिवर्तनों की तीव्र गति के वर्तमान माहौल में प्राचीन संस्कारिता की वकालत नहीं की जा सकती। पर स्त्री-अधिकारों को मानवाधिकारों के रूप में देखने से कौन रोक रहा है?

### स्त्री-मानवाधिकार

स्त्री-अधिकारों को अब मानवाधिकार से अलग करके देखा जा सकता। स्त्रियाँ स्त्री रूप में कोई विशेषाधिकार भी नहीं चाहतीं। माँ के रूप में भारतीय संस्कृति ने उन्हें जितना विशेषाधिकार-बच्चों के अधिकार, उनकी सुरक्षा, उनकी स्वस्थ सामाजिकता और उनकी संस्कारिता की दृष्टि से दे रखा है, प्राकृतिक और व्यावहारिक कारणों से वह तो उन्हें देना ही होगा, अन्यथा न मातृत्व की गरिमा

की पुनर्स्थापना संभव होगी, न वर्तमान समाज की विसंगतियों—विद्रूपताओं का निवारण कर भावी स्वस्थ समाज की रचना ही की जा सकेगी। मातृपद का विशेषाधिकार कोई पुरुष—विरोधी बात नहीं है, स्वयं पुरुषों के हित की और पूरे परिवार व समाज के हित की ही बात है।

समाज के निर्माण में स्त्रियों की भागीदारी महत्वपूर्ण होती है। किसी समाज के विकास के स्तर का आकलन ही इसी बात से किया जाता है कि उसमें स्त्रियों की स्थिति क्या है? स्त्री—मानवाधिकार की पृष्ठभूमि भी यही होगी। संयुक्त राष्ट्र संघ के सार्वभौम मानव—अधिकार घोषण—पत्र के अनुसार, 'स्त्रियों को भी वे सब अधिकार मिले हुए हैं, जो पुरुषों के पास हैं। लेकिन जब अधिकारों के हनन की बता आती है तो स्त्रियों को ही इसका शिकार बनना पड़ता है।' लिंग के आधार पर भेदभाव इसकी जड़ में हैं।

### मातृपद की गरिमा

स्त्री न भूले कि जननी के नाते वह पुरुष से ऊँची ही है। उसे मातृपद की अपनी खोई गरिमा को पुनः प्राप्त करके अपनी संतान को निर्देशित करना है। कहीं पर वह उच्छृंखल हो जाए तो नियंत्रित भी करना है। इसके लिए स्त्री—पुरुष सहकार और सहभागिता का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। सही सामाजिक बदलाव के लिए संघर्ष यदि अनिवार्य हो तो भी 'स्त्री—पुरुष के साझे संघर्ष से ही बात बनेगी।

एक बात और—माँ के नाते यदि स्त्री का दर्जा पुरुष से ऊपर है तो माँ के नाते ही उसे संतान की खातिर पति—पुरुष के आगे अभ्यर्थिनी भी होना पड़ता है। चूँकि अपनी कोख की ममता के कारण वह प्रकृति से आबद्ध और शारीरिक दृष्टि से अपनी सुरक्षा के लिए भी वह किसी हद तक पुरुष पर निर्भर है, इसलिए उसे कुछ झुककर भी पुरुष से समझौता करना पड़ता है। यही परिवार—हित में समाज उससे कुछ त्याग की भी अपेक्षा करता है। निश्चय ही शोषण तक ले जाने वाले त्याग को आज महिमामंडित नहीं किया जा सकता। पर, निजी अधिकारों पर इतना बल दिए बिना भी समय पर अपने अधिकारों का भरपूर उपयोग किया जा सकता है। निजी अस्तित्व की दुहाई दिए बिना भी उसकी सुस्थापना की जा सकती है। निजता की अति चेतना बिना भी उसका अर्जन संभव है और निजी—हित को त्यागें बिना भी निज—हित संवर्धन असंभव नहीं। संयुक्त परिवार खंडित होन पर भी भारतीय परिवार अभी तक जो बचा है, जितना बचा है, वह हमारी बेजोड़ सांस्कृतिक परंपरा के कारण, जिसका आज सारी दुनिया में अध्ययन किया जा रहा है कि वर्तमान विकृतियों का निराकरण कर नई समाज—रचना की जा सके।

पश्चिमी संस्कृति और भारतीय संस्कृति में मूलभूत अंतर ही यह रहा है कि वहाँ समाज में नारी के स्थान की प्राथमिकता का क्रम प्रेयसी, पत्नी, माँ रहा है, जबकि भारत में ठीक इसके विपरीत नारी माँ, पत्नी प्रेयसी के क्रम में प्रतिष्ठित रही है। माँ को 'अधिष्ठात्री' कहने की हमारी परंपरा की मिसाल संभवतः और किसी संस्कृति में नहीं मिलती, न ही 'दांपत्य' और 'अर्द्धनारीश्वर' जैसी ऐक्यभाव की कल्पना ही।

आदि नारी का यह महान् क्रांतिकारी और कल्याणी का संयुक्त रूप ही उसे मानवता के इतिहास में देवता—पुरुषों के भी ऊपर प्रतिष्ठित कर गया। वेदों में उल्लेख है कि महादेव कहलाने वाले शिव भी महाकाली की उपासना करते थे। ऐसी मातृशक्ति, जो शांतिकाल में ममतामय है, त्यागमय है, अन्नपूर्णा है, तो आपातकाल में रक्षक और संहारक भी। शायद इसीलिए भारत में आदिकाल से लेकर आज तक नारी के शक्ति रूप की उपासना होती आई है। क्या आज की शिक्षित, समर्थ नारी अपने इस इतिहास से कुछ प्रेरणा लेगी? क्या नारी—सशक्तिकरण की योजनाएँ बनाने वाले

हमारे नीति—निर्माता स्त्री के भीतर की इन अंतविरोधी दिखने वाली शक्तियों के समन्वयकारी, कल्याणकारी रूप को अपनी नीतियों में समाहित कर सकेंगे?

### महिला युग की प्राथमिकता

एक महान् चिंतक की यह उक्ति—'यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमते तत्र देवता' भले ही आज भी प्रासंगिक हो, किन्तु आज की नारी न 'देवी' बनना चाहती है, न 'दासी' रहना चाहती है, उसे बराबरी का मानवाधिकार चाहिए, जो संविधानप्रदात है, किंतु समाज उसे देना स्वीकार नहीं करता। वर्तमान की विभीषिकाओं ने अधिकार संपन्न नारी के जीवन को भी अभिशप्त कर रखा है। 'फेमिना' के एक सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया है कि आज भारतीय नारी जितनी परतंत्र और उत्पीड़ित है, उतनी पहले कभी नहीं रही, मध्य युग में भी नहीं। पर यह भी सत्य है कि बादलों के घटाटोप में जैसे सुनहरा प्रकाश छिपा होता है, उसी तरह आधुनिक नारी भी एक बवंडर से निकलकर न केवल साहसी व निडर बनकर निखरी है, अपनी स्थितियों और सामाजिक परिस्थितियों से लड़ना सीखकर, हर चुनौती का सामना करने के लिए अपेक्षित ताकत भी उसने हासिल कर ली है। मुश्किल यह है कि ऐसा सशक्त स्त्रियों का प्रतिशत अभी समाज में बहुत कम है। जो है, वह भी दिशाहीन आंदोलनकारी नेतृत्व की जकड़न और भटकन में गिरपत हैं।

### तप और तेज अपेक्षित

हमारे यहाँ तो वेदाकालीन ऋचा—रचनाकारों में अपाला, घोषा, वाक्, विश्ववारा, सूर्या, सावित्री जैसे अनेक मूर्धन्स नाम मिलते हैं। इसी तरह उपनिषद्काल में गार्गी मैत्रेयी आदि। पर नई सदी वैश्वीकरण का नया संस्करण चाहती है। आर्थिक वैज्ञानिक—तकनीकी क्षेत्र में बढ़े—चढ़े पश्चिमी देश भौतिक समृद्धि और उपभोक्तावाद की जिस सीढ़ी तक पहुँच गए हैं, उससे नीचे झाँकने कर अब उन्हें विनाश के गर्त में गिरने का ही भय सता रहा है। सभी धर्मों के ग्रंथ और सभी देशों के भविष्यवक्ता भी लगभग समान स्वर में कहते आए हैं कि हिंसा, आंतक, भोग, विनाश की 'अति' के बाद मानवधर्म के रूप में एक वैश्विक धर्म सामने आएगा और उसके साथ ही फिर से सुख, संतोष, शांति व भाईचारे का नया युग शुरू होगा।

इसी बिंदु पर स्त्रीतत्व प्रधान समाज की पुनर्रचना की बात प्रासंगिक हो उठती है, जो स्त्री के आध्यात्मिक नेतृत्व की भी अपेक्षा जगाती है। हर क्षेत्र में आगे आकर अपनी पहचान बनाने वाली आधुनिक सक्षम नारी से समाज की इस रूप में भी अग्रणी भूमिका निभाने की अपेक्षा क्या असंभव अपेक्षा है?

बदलते समय में अब स्त्री को समाजनियता बनने के लिए आध्यात्मिक गुरु रूप में भी सामने आना होगा कि समाज का नक्शा बदला जा सके। यह तथ्य सभी जानते हैं, इतिहास भी साक्षी है कि भारतीय समाज में राजनेता से ऋषि, गुरु या समाजनेता का स्थान सदा ऊँचा व प्रभावी रहा है। बुद्ध हों, शंकराचार्य हों, दयानंद हों या गांधी। जी हों, गांधी जी केवल राजनेता नहीं, संत भी थे। नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों को राजनीति से जोड़कर ही वे इतने बड़े समाजनेता बन सके कि भारतीय जन—मन को अपने पीछे चलाकर अहिंसक लड़ाई से आजादी ला सके। उनके उत्तराधिकारी यदि उनके पदचिन्हों पर आशिक रूप से भी चले होते तो आजादी के बाद देश के नवनिर्माण के लिए भी हमें वैसी ही मूल्यों को समर्पित अगली पीढ़ी मिलती और एक भ्रष्टाचारमुक्त समाज में देश कभी का आगे बढ़ गया होता। नई सदी की नारी से मेरी यही अपेक्षा है कि वह अपनी लक्ष—लक्ष बहनों को साथ लेकर सामूहिक अभियान चलाए—मात्र विरोधी—विद्राही आंदोलन नहीं, जागरूकता अभियान।

इसके लिए सन् 2001 में घोषित 'महिला सशक्तिकरण वर्ष' एक अच्छा अवसर था, जिसमें एक 'महिला-नीति' घोषित कर केन्द्र सरकार द्वारा सभी राज्यों को महिला-हित में नए कानून बनाने, पुराने कानूनों में अपेक्षित संशोधन करने, घरेलू हिंसा-विरोधी विधेयक तक लाने के निर्देश दिए गए। क्रियान्वयन के लिए राष्ट्रीय व राज्यस्तरीय परिषदों के निर्माण का भी उपक्रम हुआ। पर पूर्व 'महिला वर्ष' व 'महिला दशकों' की तरह 'महिला सशक्तिकरण वर्ष' भी सपनों को साकार किए बिना निकल गया। इसलिए कि स्त्री-सशक्तिकरण सरकारी घोषणाओं और कार्यक्रमों से संभव ही नहीं है।

इसके लिए तो स्वयं स्त्री-शक्ति को अपने पूरे संगठन-बल से आगे आना होगा और सभी क्षेत्रों में संतुलित सोच वाली योग्य व सक्षम स्त्रियों को नेतृत्व संभालना होगा। इसके भी पहले समाज-नियंता की भूमिका निभानी होगी कि वातावरण बनाया जा सके या कहें कि पूर्व वातावरण-शुद्धि के लिए ही उन्हें समाज के सभी क्षेत्रों में अग्रणी भूमिका निभानी होगी। तो क्यों न विरोधी आंदोलन-प्रति आंदोलन में अपनी शक्तियों का अपव्यय करने के बजाय अपने व्यक्तिगत व जातीय, दोनों रूपों में सशक्तिकरण की इस तैयारी में ही अपनी शक्तियों को केंद्रित करें? इक्कीसवीं सदी में 'महिला युग' की शुरुआत इसी राह संभव है।